

गया की गवाही

ओम थानवी

लोग पिंडदान के लिए गया जाते हैं। बोधगया और नालंदा की परिक्रमा के लिए भी। कुछ लोग दूर-पास की जगहों से वहां नाटक और सिनेमा देखने भी चले आते हैं। मैं गए सप्ताहांत दिल्ली से गया।

संजय सहाय दिल्ली में लेखकों-रंगकर्मियों के बीच कमोबेश गया के पर्याय की तरह जाने जाते हैं। उनके पिता दयानंद सहाय सांसद थे। मां भी प्रदेश में मंत्री रहीं। कांग्रेस के टिकट पर संजय खुद पिछले चुनाव में हाथ आजमा चुके हैं। लेकिन मूलतः कथाकार हैं। उनकी कहानी पर गौतम घोष ने 'पतंग' नाम से फिल्म बनाई थी, जिसे श्रेष्ठ प्रादेशिक फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। कहानियों के साथ संजय नाटक लिखते हैं और खेलते भी हैं। इसके अलावा उनका एक प्रगाढ़ शौक सिनेमा है।

आठ साल पहले संजय के पिता दयानंद सहाय का एक सड़क हादसे में अवसान हो गया। तब गया में माता-पिता की याद में उन्होंने दयानंद-सुशीला सांस्कृतिक केंद्र की स्थापना की। यह एक न्यास है। साधन बहुतों के पास होते हैं, पर उन्हें सही जगह उपयोग करने की सूझ नहीं होती। वे बारात-घर, धर्मशाला या अस्पताल से आगे नहीं सोच पाते। संजय जैसे लोग इसके अपवाद हैं। समाज में संस्कृति की जगह और संवेदन के परिष्कार की अहमियत समझते हैं।

रंगकर्मी हैं, इसलिए प्राचीन यूनानी वास्तुकला की भी उन्हें अच्छी समझ है। भारी खंभों वाले यूनानी उपासनालय की शक्ल में घर के पास उन्होंने एक रंगशाला की स्थापना की है। उसके समांतर वहीं पर एक छोटा सिनेमा हॉल है। दोनों प्रेक्षगृहों में आधुनिक उपकरणों का पूरा बंदोबस्त है। उनका यह अनुष्ठान रेनेसांस कहलाता है।

तो गए शनिवार गया में फिर एक नाटक का मंचन था। संजय ने पहले कई बार बुलाया होगा। जाने का जोग इसी दफा बना। रेल के सफर का मुझे चाव है। कोलकाता-भुवनेश्वर जाने वाली कई बेहतर गाड़ियां गया होकर जाती हैं। हालांकि रवाना कुछ जल्दी होती हैं। पर छोटे (पोर्टेबल) डीवीडी प्लेयर पर अपनी पसंद की फिल्म देखिए, या कोई अधूरी किताब पूरी कीजिए। और भोर होने से पहले गया।

नाटक शाम को था। 'गवाह' नाम से। सुनकर उत्साह थोड़ा कम हुआ था कि संजय ने नाटक के आलेख के लिए अगाथा क्रिस्टी की कहानी (बाद में नाटक) 'वितनेस फॉर द प्रोसीक्यूशन' को आधार बनाया है। इसी नाम से

बनी बिली वाइल्डर की फिल्म मैंने देखी है। शुबहा था कि रहस्य-रोमांच दर्शकों को बांधे भले रखे, नाट्यानुभव उसमें कितना होगा। लेकिन प्रस्तुति देखकर सुखद आश्चर्य हुआ। हालांकि मेरी राय यह रही है कि विदेशी नाटकों का कुछ रूपांतरण होना चाहिए। वरना बाहर की स्थितियां, नाम, घटनाक्रम और वेश-भूषा आदि दर्शक को जोड़ने में बाधक साबित होते हैं। लेकिन इससे उलट कभी यह भी लगता है कि प्रस्तुति नाटक की मूल भूमि, भंगिमा, वक्त और पात्रों से हट जाए तो मतलब भले हल हो जाय, क्या नाटककार के साथ नाइंसाफी नहीं होगी? कुछ ऐसी दुविधाग्रस्त मनःस्थिति में नाटक देखने बैठा।

नाटक की प्रस्तुति में पात्रों के नाम, वेश-भूषा और मंच-सज्जा आदि, जाहिर है, विदेशी थे। कथाक्रम तो था ही। लेकिन लगा कि निर्देशकीय कौशल से संजय पात्रों और स्थितियों का निरा स्थानीयकरण करते चले गए हैं। खासकर भाषा में। 'बुढ़ऊ' और 'खडूस' जैसे प्रयोग ही दूर देश की कहानी को एक पराई दुनिया में स्थापित करने के लिए काफी मददगार रहे होंगे। स्थितियां अजनबी थीं, लेकिन भाषा की लोच और अभिनय की भंगिमा दर्शक और कथा-भूमि के बीच की दूरी को बढ़ने नहीं देती थी।

नाटक का अधिकांश कथ्य अदालती कार्यवाही में गुजरता है। या वकील-मुवक्किल के मशविरे में। यानी कहीं भी बड़ी हलचल की गुंजाइश नाटक में नहीं निकल सकती। सिनेमा हो तो कैमरे के कोण, पात्रों और दृश्यों में हलचल का अहसास बढ़ा देते हैं। नाटक में इस मामले में संभावनाएं सिमट जाती हैं। सब एक जगह एक कोण से देखना होता है। ऐसे में सारा दारोमदार अभिनय- खासकर संवादों- पर केंद्रित हो जाता है। थोड़ा सहारा प्रकाश और संगीत से मिल सकता है। 'गवाह' में सिर्फ प्रकाश का संयोजन था। अभिनय और प्रकाश दोनों नाटक की जान थे।

प्रसंगवश एक पुरानी प्रस्तुति का खयाल जेहन में आया। बहुत साल हुए, दिल्ली के प्यारेलाल भवन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की प्रस्तुति 'अंकल वान्या' देखी थी। चेखव का नाटक था, हिंदी में- विद्यालय जिसे हिंदुस्तानी कहता है। निर्देशक थे मनोहर सिंह और केके रैना। मनोहर सिंह मुख्य भूमिका में भी थे। नाटक की भावभूमि तो विदेशी थी ही, वेशभूषा और हाव-भाव आदि भी बाहरी थे। लेकिन भाषा तो हमारी थी! बेजोड़ अभिनय के बावजूद पता नहीं क्यों वह भी पराई होकर सामने आई। सब परदों के साथ जैसे एक और झीना परदा हमारे सामने खिंच आया हो।

विद्यालय में ज्यादातर एक शुद्धतावादी भाव कायम रहा, जिसका असर छोटे शहरों के रंगमंच तक जाता था। ब.व. कारंत इसके अपवाद बनकर आए। उन्होंने 'बरनम बन' (मेकबेथ) मंचित किया। पद्य में रघुवीर सहाय का बेहतरीन अनुवाद। पारंपरिक यक्षगान शैली में प्रस्तुति। पात्र विदेशी थे, यानी उनके नाम। लेकिन भाषा और देसी चाल-ढाल ने दर्शक के सामने एक बड़ी दीवार ढहा दी। अपने निर्देशकीय वक्तव्य में कारंत जी ने कहा था, 'शेक्सपीयर को उसके देश की नाट्यशैली में करूंगा तो मुझे लगेगा मैं झूठ बोल रहा हूं।... यक्षगान का प्रयोग महज प्रयोग के लिए नहीं, अपनी विश्वसनीयता बनाए रखने के लिए है।'

बहरहाल, गया आज के अर्थों में आधुनिक शहर नहीं है। नाटक में तीन स्त्री-पात्र थे। सबकी भूमिका सहजता से निभाई गई। खुशी हुई कि चार स्त्री-चरित्रों वाला नाटक गया में खेला जा सकता है।

दरअसल, हम लोग जब रंगमंच पर सक्रिय थे, तब मंचन के लिए ऐसा आलेख ढूंढते थे, जिसमें स्त्री-पात्र कम से कम हों। न हों तो और अच्छा। ऐसा नहीं कि लड़कियां अभिनय में रुचि नहीं रखती थीं। लेकिन छोटे शहर में घर वाले रंगमंच पर उनकी उपस्थिति सम्मानजनक नहीं समझते थे। शायद दूसरे लोग भी। एक दफा 'बल्लभपुर की रूपकथा' की रिहर्सल के दौरान एक सिपाही आ धमका। पड़ोस वालों ने शिकायत की थी कि लड़कों के बीच लड़की यहां रोज शाम आती है, इससे बच्चों पर 'बुरा' असर पड़ सकता है!

एक नाटक मैंने खेलने के लिए खुद लिखा, आपातकाल और उसके बाद पत्र-पत्रिकाओं में छपी चीजों का कोलाज-सा बनाते हुए। उसे राजस्थान संगीत-नाटक अकादमी के समारोह में पहला पुरस्कार मिला था। उसमें स्त्री-पात्र की मैंने छोटी-सी भूमिका ही रखी। नंदकिशोर आचार्य और मेहरबान निकले। 'किसी और का सपना' उन्होंने हमारी मंडली 'रंगन' के लिए बगैर स्त्री-पात्र के लिख डाला। वह उनका पहला नाटक था। मुझे उसके निर्देशन का सौभाग्य भी मिला।

मैंने संजय सहाय से जानना चाहा कि क्या स्त्री-पात्रों के अभिनय के लिए उत्साही कलाकार गया में आसानी से मिल जाते हैं? संजय ने बताया कि माहौल काफी बदला है। "थोड़ी समस्या अब भी पेश आती है। चार स्त्री-चरित्र थे, जिन्हें हमारी प्रस्तुति में तीन कलाकारों को निभाना पड़ा!"

पर नाटक के लिए दर्शक तैयार हुए हैं, यह वहां मौजूद समूह से जाहिर था। मेरा मानना है, साहित्य-कला में महानगरों से ज्यादा उत्साह छोटे शहरों में देखने को मिलता है। कुछ लोग प्रस्तुति देखने पटना से गया आए थे। नाटक का यह चौथा मंचन था। मैंने कुछ हैरानी भरी खुशी जताई तो शहर के व्यवसायी संतोष कुमार तिवारी बोले- बिहार की राजधानी पटना है, पर सांस्कृतिक राजधानी गया को समझिए। वहां मौजूद लोगों ने इस उपमा की ताईद की। धीरे-धीरे और जानकारी मिली तो यह मानने में परेशानी का कोई सबब नहीं रहा।

केंद्र में कोई न कोई गतिविधि चलती रहती है। साहित्यिक गोष्ठियां होती हैं। नामवर सिंह और राजेंद्र यादव से लेकर राजेश जोशी और असगर वजाहत तक वहां अपने विचार रख आए हैं। नाटक, नृत्य और संगीत के आयोजन भी बहुत होते हैं। चित्रकला की कार्यशालाएं आयोजित होती हैं। मगर सबसे नियमित कार्यक्रम है, सिनेमा। शनिवार और रविवार को विश्व सिनेमा की चुनिंदा फिल्म का प्रदर्शन होता है। सबके लिए मुक्त और बिलकुल मुफ्त। विशेष कार्यक्रमों में सत्यजित राय और चार्ली चैपलिन की फिल्मों के समारोह के अलावा बिहार के फिल्मकारों पर केंद्रित समारोह भी केंद्र ने आयोजित किया है।

अपनी तक्षशिला यात्रा की याद जगाने के लिए दोपहर नालंदा गया। वहां हमारा गाइड बता रहा था, जब वक्त मिले सिर्फ फिल्म देखने के लिए गया जाता हूं! जब पता चला कि हम उसी केंद्र के आयोजन में आए हैं, उसने संजय से अपना मेहनताना लेने में आनाकानी की।

केंद्र की गतिविधियों से निकट से जुड़े वकील अशोक कुमार ने बताया कि रेनेसांस के मंच से तीजन बाई से शोभना नारायण तक कार्यक्रम पेश कर चुकी हैं। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय अपना समारोह यहां कर चुका है, जिसमें राजेंद्र नाथ, देवेंद्रराज अंकुर, बंसी कौल, कीर्ति जैन और प्रसन्ना आदि के नाटक मंचित हुए हैं।

रवाना होने लगा तब आयोजकों ने एक अनौपचारिक मुलाकात नाट्य-मंडली के साथ रखी। अभिनेता अभी अपने मेकअप में ही थे। अपने काम को लेकर उनमें संकोच भरे विनय का भाव था। कभी-कभी दर्शकों की तालियां चढ़ते कलाकारों में अहंकार को हवा दे देती हैं। मैंने पंकज कपूर जैसे उदाहरण देखे हैं और मनोहर सिंह जैसे अपवाद भी। गया के कलाकार मामूली भूल-चूक को लेकर चिंतित थे, यह देखकर अच्छा लगा। बड़ा सधा अभिनय करने वाली एक अभिनेत्री ने निर्देशक से क्षमायाचना की कि एक जगह वह संवाद भूल गई थी। हालांकि नाटक में शायद ही कोई प्रस्तुति होती होगी, जिसमें संवाद, संगीत या रोशनी में अनपेक्षित विचलन पेश न आता हो।

चूंकि संजय मंडली को मेरा परिचय देते हुए रंगकर्म का हवाला जोड़ चुके थे, मैंने रंगकर्मी साथियों को भूल-चूक की एक आपबीती सुनाई। वागीशकुमार सिंह ने 'वेटिंग फॉर गोदो' में मुझे एस्त्रेगा की भूमिका दी थी। इंतजार की बेकली और बेकरारी को संवादों के बीच निरर्थक चहलकदमी से व्यक्त किया जाना था। नाटक में एक पात्र (पोजो) सहसा अपना संवाद भूल गया। अगला संवाद मुझे बोलना था जो जवाब की शक्ल में था। जब सवाल ही सामने न आए तो जवाब कैसे दिया जाय!

पीछे से संवाद याद दिलाने की प्रथा हम तब तक छोड़ चुके थे। पोजो के सवाल में 'हैट' शब्द आता था। हैट और गुलाम पात्र लकी दोनों मंच के फर्श पर थे। मैंने एक त्वरित संवाद गढ़ा: "हुजूर, (लकी) हैट की तरफ देख रहा है।" 'हां-हां, हैट', सहयोगी को संवाद याद आ गया। नाटक आगे बढ़ चला। दर्शकों को गतिरोध का अहसास नहीं हुआ। पर मैं और मेरा साथी दोनों हफ्तों चुहल करते रहे कि अगर बात न बनती तो नाटक की तस्वीर क्या होती!

मंच कोई न कोई रास्ता खुद सुझा देता है।